17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 427

नागरिकता और संवैधानिकता

कुँवर प्रांजल सिंह

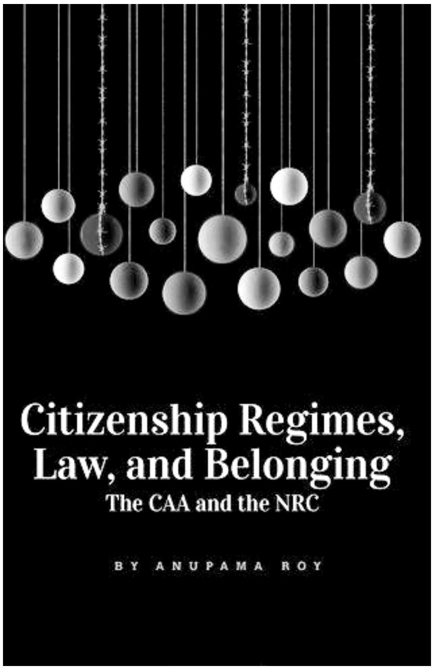

सिटिज़नशिप, रिजीम्स , लॉ ऐंड बिलॉन्गिग : द सीएए ऐंड द एनआरसी

अनुपमा रॉय

ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

पृष्ठ : 360.

मूल्य : ₹ 297.

अनुपमा रॉय की नई किताब *सिटिज़नशिप, रिजीम्स, लॉ ऐंड बिलॉन्गिग : द सीएए ऐंड द एनआरसी* संवैधानिक नैतिकता की तर्ज़ पर नागरिकता का समासित, प्रतिबद्ध और अल्पिष्ट आकलनों का त्रिभुज खींचती है। यह किताब नागरिक शासन के ऐसे वक़्त को समेटती है जहाँ स्वाधीनता संघर्ष की प्रक्रियाओं में अर्जित समता, सहअस्तित्व, सहिष्णुता, अधिकार तथा बंधुत्व जैसे मूल्य हाँफते नज़र आते हैं। धर्म को राजनीति से दूर रखने का संवैधानिक विचार असंदिग्ध रूप से भुलाया जा चुका है। जिसमें 'हम भारत के लोग' की अवधारणा बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता की रस्साकशी का हिस्सा बन चला है। ज़ाहिर है कि ऐसे वक़्त और माहौल में लिखी गई किताब पुराने आश्वस्तियों और निष्कर्षों का भाष्य नहीं हो सकती इसलिए अनुपमा रॉय की यह किताब बहुत से लोगों को क़ानूनी दस्तावेज़ की व्याख्या से उपजी सैद्धांतिकी भी लग सकती है।

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 428

लेखिका का प्रारंभिक विश्लेषण बताता है कि भारत का नागरिकता संशोधन अधिनियम अपने आप में शासन के तर्क को प्रकट करता है। वे तीन बिंदुओं की चर्चा करती हैं। पहला, 1955 के नागरिकता अधिनियम ने एक ऐसे शासन का गठन किया जहाँ परिवर्तनकारी तर्क संवैधानिक लोकतंत्र और गणतांत्रिक नागरिकता की विशेषता के रूप में विद्यमान है। दूसरा, 1985 का नागरिक अधिनियम असम राज्य के लिए विभेदीकृत सार्वभौमिकता और श्रेणीबद्ध नागरिकता को स्थापित करने के लिए नागरिक क़ानूनों में 'अपवाद' के तर्क को सम्मिलित करता है। तीसरा, 2003 का संशोधन केंद्र सरकार को विशिष्टता का आधार देते हुए राष्ट्रीय रजिस्टर के प्रावधान से 'दस्तावेज़ी नागरिकता' को सत्यापित करता है।[1] यह राज्य के बहुसंख्यकवादी चेहरे को सामने रखता है। मसलन असम में एनआरसी (2015 के बाद और 2016/2019) में सीएए के माध्यम से राज्य प्रतिबद्ध नागरिकता के शासन को स्थापित करने का अभ्यास करता है।[2]

अनुपमा रॉय के द्वारा प्रस्तुत किए गए नागरिकता के ये तीनों तर्क परिवर्तनकारी, अपवाद और प्रतिबद्ध नागरिकता अपने आप में संवैधानिक ढाँचे के भीतर लोकतांत्रिक प्रक्रिया से होते हुए प्रभुत्व के विचार को ही आगे बढ़ाता है। यहाँ जो ऐतिहासिक दृष्टि मिलती है वह आज़ादी और अधिकार के खंडित रूप का विस्तार करती है। क्योंकि अधिकार जैसी अवधारणा आधुनिकता[3] के साथ जुड़ी हुई है। इस अवधारणा का काम उदीयमान बुर्जुआ वर्ग को राजनीतिक अधिकारहीनता अथवा संस्थाबद्ध दासता से उबारकर औपचारिक समतावादी तथा सार्वभौमिक नागरिकता के विमर्श में स्थापित करना था।[4] ऐसे में संविधानवाद की वह गुत्थियाँ भी खुल जाती हैं। जिसकी तजवीज़ कार्ल फ्रेडरिक ने राजनीतिक समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की हिफ़ाज़त के रूप में पेश की थी (कार्ल फ्रेडरिक, 1950)। लेकिन अब आम तौर पर यह माना जाने लगा है कि सार्वभौमिक कसौटियों को संविधान में निहित अधिकारों से ज़्यादा सत्ता का आधार बना दिया गया है। मसलन साठ सालों से नागरिक अधिकारों का निर्वहन करने के बाद भारत में अल्पसंख्यकों का एक विशेष समूह ऐसे 'विरोधाभासी समय' में प्रवेश कर गया है जिसका एक सिरा ऐतिहासिक घटनाक्रमों की ओर खिंचा हुआ है और दूसरा हिस्सा बहुसंख्यकवाद के तर्क को लोकतंत्र का तर्क बनाने पर आमादा है। इसके लिए बेन्हबीब का हवाला देकर लेखिका ने यह फ़ुटनोट दिया है कि सार्वजनिक तर्क, विचार-विमर्श

[1] अनुपमा रॉय (2022) : 6.

[2] वही : 2.

[3] समीक्षित लेख में आधुनिकता का पर्याय आधुनिक राज्य से है. क्योंकि भारत में आधुनिकता की पूरी प्रक्रिया में राज्य इसके केंद्र में रहा है. राज्य केवल संस्थागत अर्थ ही धारण नहीं करता बल्कि समाज के साथ चयनात्मक मध्यस्थता करने वाला वाहक भी है. यही कारण है कि अधिकार, न्याय, स्वतंत्रता जैसे मूल्य राज्य के द्वारा वितरित भी किए जाते हैं और इन मूल्यों को आधुनिक राज्य अपने तर्क के आधार पर नागरिकों से वापस भी ले लेता है. दिलचस्प बहस के लिए देखें कविराज (2010) : 9.

[4] वेंडी ब्राउन (1995) : 99.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 429

और विनिमय लोकतांत्रिक पुनरावृत्ति की एक जटिल प्रक्रिया है।[5]

इन्हीं बहसों और अंतर्विरोधों के मद्देनज़र प्रस्तुत समीक्षा लेख को तीन भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में कौन है भारतीय नागरिक? जैसे सवाल से दो चार होते हुए नागरिकता के व्यावहारिक सिद्धांत की पड़ताल की जाएगी। दूसरे भाग में, नागरिक इतिहास की समीक्षा का विश्लेषण किया जाएगा। तीसरे भाग में संविधान के लोकप्रिय पाठों का विश्लेषण करते हुए संवैधानिक लोकतंत्र में लोकप्रिय संप्रभुता और नैतिकता के बीच लोकलुभावनवाद ने नागरिकता को किस प्रकार गतिशीलता प्रदान की है इसकी शिनाख़्त की जाएगी। हालाँकि यह पूरी किताब संविधान कि उन प्रक्रियाओं को नज़दीक से देखते हुए क़ानूनी धरातल पर नागरिक क़ानूनों के साथ लोगों के संबंधों की पड़ताल करती है।[6]

नागरिकता है जिसका नाम

समीक्षित किताब नागरिकता की परिभाषित बहसों को संदर्भित करते हुए नागरिकता को क़ानूनी प्रतीक के तौर पर देखती है। इस बात पर ग़ौर किया है कि क़ानून और नागरिकता का विचार अपने आप में शासन के विचार से जुड़ा हुआ है। जहाँ सत्ता के क्षेत्र की पहचान के लिए वैधानिकता की प्रथा को राज्य की आधिकारिक शक्ति के रूप में क़ानून बनाने के प्रकरण को जायज़ ठहराया जाता है।[7] जिससे नागरिकों के साथ, राज्य किसी भी प्रकार का व्यवहार करने की मान्यता प्राप्त कर लेता है। यही वह स्पेस है जिसे मैं समीक्षित किताब के माध्यम से 'विरोधाभासी स्पेस' कहना चाह रहा हूँ। यह विरोधाभासी स्पेस नागरिकता और राज्य के बीच एक ऐसी समझ को विकसित करता है जो ऐतिहासिक तौर पर बेहद अलहदा होते हैं। जहाँ राज्य पहले से यह मान कर चलता है कि उसका हर क़दम अपने नागरिकों के कल्याण के लिए है। जब नागरिक राज्य के इस क़दम का विरोध करते हैं; तब राज्य यह तर्क देता है कि उसके औचित्य के लिए संप्रभुता और शासन व्यवस्था को बनाए रखने के लिए साधारण से असाधारण स्थितियों की ओर बढ़ सकता है। जिसे उज्ज्वल कुमार सिंह 'लोकतंत्र की दुविधा' के रूप में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि राज्य के औचित्य से जुड़े विचार ऐसे अपवादजनक या साधारण स्थितियों में उत्पन्न होते हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए ख़तरा पैदा कर सकते हैं। इसलिए राज्य की संप्रभुता की परिभाषा ही राज्य के औचित्य से जुड़ी हुई है।[8] ऐसे में राज्य अपनी नागरिक परिभाषा में व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य में अर्जित किए गए ज्ञान को सार्वजनिक दस्तावेज़ (पब्लिक डॉक्यूमेंट) के रूप में परिभाषित करता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 74 इस सार्वजनिक दस्तावेज़ को सम्प्रभु प्राधिकरण, न्यायिक, कार्यपालिका, विधायिका और आधिकारिक निकायों से जोड़कर परिभाषित करती है। इस पूरे दस्तावेज़ में कौन सा दस्तावेज़ सार्वजनिक कहा जाएगा इसका निर्धारण राज्य के पास ही

[5] सेला बेन्हबीब (2007) : 14. संदर्भित अनुपमा रॉय (2022) : 8.

[6] अनुपमा रॉय (2022) : 8.

[7] वही : 9.

[8] उज्ज्वल कुमार सिंह (2020) : 6.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 430

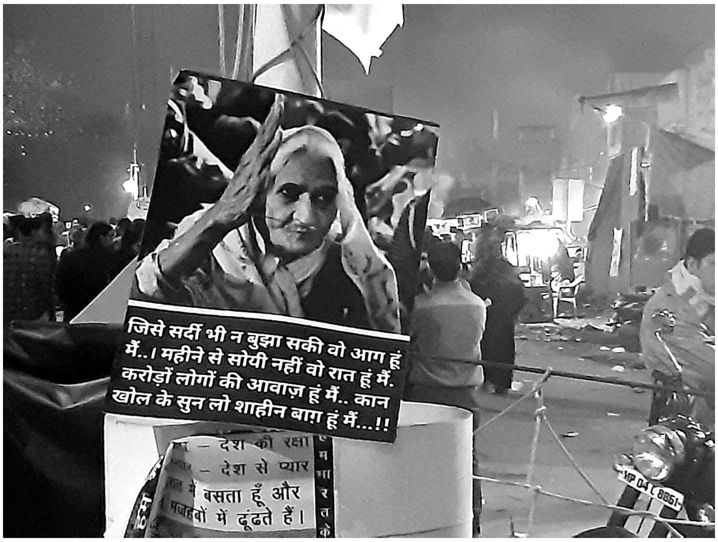

है। मसलन जबेदा बेगम केस में नागरिकता के प्रमाण के लिए पंचायत के द्वारा मिले प्रमाण पत्रों को आधार बनाया तो न्यायालय ने उसे नागरिकता के मापांक के लिए अस्वीकार कर दिया। यह देखना बेहद अजीब है की ग्राम पंचायत अपने आप में एक सार्वजनिक संस्था होते हुए भी उसके द्वारा प्रमाणित दस्तावेज़ों को सार्वजनिक रिकॉर्ड के तौर पर नहीं देखता है।[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक और निजी दोनों का संकलन राज्य की परिस्थिति पर आधारित है कि वह कब और किस रूप में परिभाषित करता है। पब्लिक डॉक्यूमेंट नागरिकता की एक ऐसी परिभाषा है जो एक साथ दोहरे मापदंडों को तय करती है। एक तरफ़ वह अस्मिता से जुड़ी हुई है जो लोकतंत्र की व्यावहारिकता को नए कलेवर के रूप में देखती है। यह कलेवर नब्बे के दशक में सामाजिक न्याय और सेकुलरवाद के विजय घोष से आगे बढ़ कर व्यक्तिगत से ज़्यादा एक ऐसे राष्ट्रवाद के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है जिसमें सरकार के पक्ष में खड़े होने वाले राष्ट्रवादी कहलाते हैं और सरकार के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन करने वाले राष्ट्रविरोधी, और यही मापांक आमफ़हम में इस प्रकार विचरण कर रहा है जो नागरिकता की हैसियत को भी सिद्ध करने लगा है। इसलिए एनआरसी केवल एकीकरण करने की प्रक्रिया ही नहीं है बल्कि असमिया पहचान की मान्यता को दस्तावेज़ी प्रक्रिया के माध्यम से कुशल और प्रभावी पहचान की व्यवस्था पर कसा जाना भी शामिल है। दूसरी तरफ़, यह नौकरशाही अभ्यास को ऐसी ताक़त प्रदान करता है जो उसके संरचनात्मक प्रभाव को विस्तारित करते हुए विशिष्ट सरकारी प्रथाओं के माध्यम से नागरिकों की एक स्थिर और गणना योग्य श्रेणी का निर्माण कर सके।[10]

अनुपमा रॉय राजनीतिक सिद्धांत की किताबों के उस आदर्श तिलिस्म को तोड़ देती हैं जहाँ क़ानून सभी को बराबरी की

[9] अनुपमा रॉय (2022) : 74.

[10] वही : 59.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 431

हैसियत देता है। सैद्धांतिक रूप से अनुपमा रॉय यह मानती रही हैं कि नागरिकता ख़ुद अपने आप में सार्वभौमिक समानता का ही आधार है। इस अमूर्त सार्वभौमवाद में एक मुहासिर मूल्य होता है जो राज्य का समावेशी गुण है। लोकतांत्रिक होने के लिए सर्वभौमिकता अलग-अलग स्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के बीच अपना विस्तार करता है। यहाँ ख़ुद को द्वंद्वात्मक संबंधों और प्रक्रियाओं के ऐसे समूह के भीतर ले जाना होता है जो विभेद को मिटाने के बजाए उसे मान्यता देता हो। रॉय के अनुसार मुहासिर का तर्क दो मान्यताओं पर आधारित है। एक ऐसा समय मुक्तिकामी परिवर्तन का क्षण होता है जहाँ द्वंद्वात्मक संबंध ख़ुद को अभिव्यक्त करता है दूसरा सार्वभौमिक रेखा के भीतर ही विभेद सामने आते हैं।[11] इसके आधार पर प्रोफ़ेसर रॉय राज्य के व्यवहार की ओर इशारा करती हैं। लेकिन एक बंदोबस्त इस लोकतांत्रिक परिदृश्य में ऐसा भी है जो नागरिकता के इस सैद्धांतिक सार्वभौमिकता में लगभग ग़ायब ही रहता है। पार्थ चटर्जी के मुताबिक़, आधुनिक पश्चिमी समाजों के तजुर्बों पर आधारित पॉलिटिकल थियरी के लिए पूरा समाज यानि जो भी राज्य की परिभाषा के बाहर है और आधुनिकता की बुलंद ज़मीन पर वह सब नागरिक समाज है इसके बरअक्स भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा भी होता है जो नागरिकता और आधुनिकता दोनों के दायरे से बाहर है।[12] यह समाज अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है और अधिकांश मौक़ों पर उसकी गतिविधियाँ ग़ैर-कानूनी दायरे में चली जाती हैं। चटर्जी यह मानते हैं कि संविधान तथा क़ानून के अनुसार सभी लोग समान अधिकार के साथ नागरिक हैं लेकिन अधिकांश निवासी केवल बारीक अर्थों में ही अधिकार धारण करने वाले नागरिक हैं। अधिकार धारक नागरिक के रूप में इनकी द्वैध स्थिति है। ये अपने निवास स्थान और जीविका आदि के संदर्भ में ग़ैर-कानूनी स्थिति में हो सकते हैं। इस आधार पर यह नागरिक समाज के सदस्य नहीं होते। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह राज्य की पहुँच से बाहर निकल पाते हैं।

नागरिक इतिहास से अपमान और अन्याय तक

अनुपमा रॉय संविधान सभा की समीक्षित व्याख्या करते हुए यह मानती हैं कि भारत में नागरिकता औपनिवेशिक शासन से एक संवैधानिक लोकतंत्र में परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है।

[11] अनुपमा रॉय (2010) : 6-7 और कमल नयन चौबे (2013) : 777.

[12] हालाँकि पार्थ चटर्जी की इस दलील को आदित्य निगम ने मार्क्सवादी प्रसंगों में समझने की भूल से आगाह किया है. निगम यह बताते हैं कि बुर्जुआ समाज में लोकतांत्रिक अधिकार और क़ानून की हुकूमत सिर्फ़ अमीरों के लिए होते हैं और आम लोग इससे हमेशा बाहर रखे जाते हैं. इस तरह की धारणा हमारे यहाँ काफ़ी प्रचलित है मगर इस तरह की सोच के साथ एक बुनियादी परेशानी भी है : इसके पीछे ऐसी मान्यता काम कर रही होती है जिसके मुताबिक़ समाज में सब कुछ या तो पूँजी के लिए होता है, या फिर किसी भी चीज का पूँजी के बाहर कोई वजूद नहीं होता है; अर्थात समाज में सब कुछ एक केंद्र से कुछ लोगों के द्वारा किए गए फ़ैसलों के तहत चलता है. इस तरह की सोच में न तो सामाजिक प्रक्रियाओं के स्वतंत्र वजूद को समझने की कोई जगह बन पाती है न ही उन प्रक्रियाओं की पेचीदगियों को बारीकी से देखने और समझने की ज़रूरत ही कभी पेश आती है. क़ानून बनने के पेचीदा रास्तों से गुज़रते हुए मुख़ातिब सामाजिक समूहों और तबक़ों के आपसी द्वंद्वों के बीच राजसत्ता काम करती है, यह सब कभी हमारे विचारों का विषय ही नहीं बन पाता है. इस पूरी दिलचस्प बहस के लिए देखें. आदित्य निगम (2023) : 134. साथ ही पार्थ चटर्जी के विमर्श के लिए देखें, पार्थ चटर्जी (2004).

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 432

संविधान की घोषणा ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि भारत की नागरिकता पूरी तरह से एक नया विचार है। 1950 में संविधान के अनुच्छेद 5 से 11 तक यह घोषणा है कि भारत में रहने वाला कोई भी व्यक्ति जो किसी अन्य देश की नागरिकता का दावा नहीं करता है वो भारतीय नागरिक है। अपने औपनिवेशिक संघर्षों से भारत एक ऐसे राष्ट्र के रूप में उभरा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की पहचान राष्ट्रीय समुदाय या नागरिक के तौर पर की जाएगी। यह दलील उस समय तक कामयाब थी जब संप्रभुता का विचार राष्ट्रीय राज्य में सत्ता स्थानांतरण के इतिहास से जुड़ा हुआ था।

प्रोफ़ेसर रॉय इतिहास को समकालीन राजनीतिक सवालों से खोलती हैं जो इस किताब का सबसे दिलचस्प हिस्सा माना जा सकता है, जहाँ एक तरफ़ संसद की बहसों की थाह लेते हुए नागरिकता पर उत्पन्न विरोधाभास में विभाजन एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मौजूद हो रहा है, वहीं दूसरी ओर नागरिकता सांप्रदायिक बहुसंख्यकवाद के खाँचे में खिंच गई है।[13] लेकिन यह एक ऐसा विरोधाभास था जिसमें सेकुलरवाद अपने आप में विपक्षीय दल की विचारधारा बन कर दम तोड़ चुका था।

दरअसल, संविधान के उद्भव के क्षण में भविष्य की दहलीज़ पर खड़े प्रेरित नागरिकों के लिए अतीत कोई बाधा नहीं थी। फिर भी, ये नागरिक उस क्षण के विरोधाभासी स्पेस के प्रतीक के तौर पर सामने आए। यह बात आंबेडकर के प्रसिद्ध दावे से सामने आती है। ग़ौरतलब है कि नेहरू ने एक युग की समाप्ति का दावा किया था। लेकिन इससे अलग, आंबेडकर ने यह विचार अभिव्यक्त किया कि 'हम 26 जनवरी, 1950 को विरोधाभासों के जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। यह विरोध राजनीतिक क्षेत्र की औपचारिक समानता और गहरी ग़ैर-बराबरी वाली आर्थिक संरचना के बीच था। आंबेडकर यह मानते थे कि यह विरोधाभास लंबे समय तक क़ायम रहा, तो यह भारतीय लोकतंत्र को ख़तरे में डाल सकता है। साफ़ तौर पर यहाँ नेहरू मानते थे कि निर्माणकारी क्षण अतीत से बिल्कुल अलग और उच्चतर है, वहीं आंबेडकर ने इसे एक विरोधाभास के तौर पर देखा। उपेंद्र बख़्शी आंबेडकर के इन विचारों को संवैधानिक विद्रोह की अभिव्यक्ति के तौर पर देखते हैं, जिसने राजनीति के निरन्तर पुनर्सृजन और जीवन की एक नई दुनिया के निर्माण की संभावनाओं को जीवित रखा है। बख़्शी द्वारा आंबेडकर के कथन में संवैधानिक विद्रोह शामिल होने के विचार की व्याख्या संवैधानिक व्याख्याशास्त्र के भीतर की जा सकती है।[14] यह संविधान को ऐसे संघर्ष स्थल के रूप में प्रस्तुत करता है जहाँ संविधान के शासन और अधिकार के प्रावधान से खुला संघर्ष होता है। यह नागरिकता के विस्तार की संभावना पैदा करता है।

वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य के मद्देनज़र

---

[13] अनुपमा रॉय (2022) : 150.

[14] बख़्शी यह मानते हैं कि संवैधानिक व्याख्याशास्त्र में क़ानून के निर्मित शब्दों और निर्माणकारी क्षण के बीच संबंधों पर ध्यान दिया जाता है. बख़्शी ने इन अर्थों की पहचान संवैधानिक ग्रंथ.(सी1) संवैधानिक क़ानून (सी2) तथा सिद्धांत/विचारधारा (सी3) के रूप में की जाती है. दिलचस्पी के लिए देखें. उपेन्द्र बख़्शी (2008) : 99-100.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 433

आम्बेडकर के विचार को ध्यान में रखकर विश्लेषित किया जाए तो लेखिका का यह प्रस्ताव कि इतिहास अपने खंडित दौर में है, सही साबित होता है। क्योंकि नागरिकता का इतिहास यंत्रणा और यातना के एक ऐसे भित्ति-चित्र की तरह भी दिख सकता है जिसमें जितना उपस्थित है, शायद उतना ही फ्रेम से बाहर रह गया है। यह बात भी मानी जाती रही है कि इतिहास और समाज विज्ञान विभाजन पर अंतिम वाक्य कहने में लगभग असफल रहा है। इसलिए विभाजन इतिहास की एक ऐसी घटना बन चुका है जो 'दोषारोपण की राजनीति' से संचालित होता है। इसका एक बड़ा प्रतिबिंब तब देखने को मिला जब सीएए और एनआरसी पर बहस संसद से सड़क तक तेज़ हुई थी। बक़ौल प्रो. रॉय :

> जब लॉकेट चटर्जी ने घोषणा कि भारत के विभाजन का ज़िम्मेदार नेहरू है उनकी यह घोषणा सत्ता पक्ष का प्रमेय बन गई। इस प्रमेय को भाजपा के शीर्ष नेतृत्व ने प्रमाणित तथ्य की भांति बार-बार दोहराया। संविधान सभा, गांधी और श्यामा प्रसाद मुखर्जी का हवाला देते हुए भाजपा नागरिक संशोधन क़ानून में यह तर्क देती रही कि जो लोग विभाजन की त्रासदी के बाद भारत का हिस्सा नहीं बन सके उन्हें भारत का हिस्सा बनाने के लिए उनका स्वागत किया जाए। हालाँकि, भाजपा के सूत्रीकरण में, सीएए की आवश्यकता नेहरू की 'ग़लती' से उभरी! राज्यसभा में वक्ताओं को दिए अपने जवाब में अमित शाह ने कहा कि सबसे बड़ी ग़लती विभाजन नहीं बल्कि धर्म के आधार पर विभाजन था। अगर बँटवारा नहीं होता तो नागरिकता क़ानून में संशोधन की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। विभाजन के बाद पैदा हुई परिस्थितियों से निपटने के लिए सीएबी ज़रूरी हो गया था। यदि पहले की सरकारों ने इन समस्याओं का समाधान किया होता, तो उन्हें विधेयक नहीं लाना पड़ता। मोदी सरकार पहले की अन्य सरकारों की तरह केवल सत्ता का आनंद ले सकती थी, लेकिन सीएबी राजनीतिक लाभ या चुनावी लाभ के लिए नहीं, बल्कि समस्याओं के समाधान के लिए था। शाह ने बिल का विरोध करने वालों से कहा कि वे रात के अंधेरे में अपने कमरे में बैठें और अंतरात्मा से संवाद करें; अगर बिल पचास साल पहले लाया जाता तो स्थिति इतनी गंभीर नहीं होती। सावरकर को विभाजन का पैरोकार क़रार देने वालों का ध्यान शाह ने 1950 के लियाक़त-नेहरू समझौते की ओर आकृष्ट किया, जहाँ एक समझौता किया गया था कि दोनों देश अपने अल्पसंख्यक समुदायों के लिए समानता का विस्तार करेंगे और किसी भी पेशे, विश्वास, धर्म का अभ्यास करने की स्वतंत्रता की रक्षा करेंगे। इन वादों को पाकिस्तान ने पूरा

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 434

नहीं किया और उस देश में अल्पसंख्यकों का प्रतिशत 22 प्रतिशत से घटकर 7 प्रतिशत रह गया। यदि इन देशों के अल्पसंख्यक समुदायों के लोग अब अपनी महिलाओं, अपने धर्म और अपने परिवारों के सम्मान की रक्षा के लिए भारत आ रहे हैं, तो उनकी रक्षा की जानी चाहिए। वे अब कहाँ जाएँगे? क्या हम उन्हें नागरिकता नहीं देंगे?

वे आगे इसी शृंखला में कहते हैं कि–

> 1930 के दशक के बाद के राष्ट्र की कहानी जोगेंद्र नाथ मंडल जैसे अनुसूचित जाति समुदाय के एक आंबेडकरवादी व्यक्ति की कहानी थी, जिन्होंने पाकिस्तान में रहना चुना, जिनके धार्मिक उत्पीड़न का इतिहास छिपा हुआ है। सीएबी मंडल जैसे लोगों के लिए था, जिनके पास दमनकारी शासन से बचने के लिए कोई और जगह नहीं थी। मुसलमान 46 देशों में पलायन कर सकते थे, जो मुस्लिम होने का दावा करते थे, ईसाई 40 देशों में भाग गए, जिन्होंने अपनी आस्था का दावा किया, लेकिन हिंदुओं के लिए कोई भी नहीं था (लोकसभा बहस, 9 दिसंबर 2019)।

राज्यसभा में बोलते हुए, आनंद शर्मा ने कहा कि वर्तमान शासन उन नेताओं को नीचा दिखाने का प्रयास कर रहा है जिन्होंने वर्षों तक जेलों में बिताए और भारत की स्वतंत्रता के लिए अपना बलिदान दिया। इस आरोप को ख़ारिज करते हुए कि विभाजन के लिए नेहरू और कॉन्ग्रेस ज़िम्मेदार थे, शर्मा ने संवैधानिक नागरिकता के लिए आंदोलन और इसकी अंतर्निहित समावेशी प्रकृति की ओर ध्यान आकर्षित किया : यदि यह शासन इंकार करना चाहता है तो यह इतिहास का अन्याय और अपमान होगा। उन्होंने चेताया कि इतिहास को बदलने की कोशिश करने वाली सत्ताएँ सफल नहीं होतीं – जब सत्य को मिटाने की कोशिश की जाती है, तो वह और भी ज़ोरदार रूप में सामने आता है। धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों के विचार का समर्थन 1937 में हिंदू महासभा ने अहमदाबाद में अपनी बैठक में किया था। जिसकी अध्यक्षता सावरकर ने की थी। एक साल बाद मुस्लिम लीग ने भी बँटवारे का प्रस्ताव पारित किया। जब भारत छोड़ो आंदोलन के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कॉन्ग्रेस नेतृत्व को क़ैद कर लिया गया था, तो यह हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग थी, जो प्रांतीय सरकारें बनाने के लिए प्रतिबद्ध थीं।[15]

इस प्रसंग से जो नतीजा निकाला जा सकता है वह नागरिकता को विभाजन जैसी ऐतिहासिक घटना और राष्ट्र के इतिहास दोनों का पर्याय बना देती है। परिणामस्वरूप संवैधानिक नागरिकता का प्रश्न राष्ट्र के प्रश्न से हट कर धर्म का प्रश्न बन गया। दो शब्द 'इतिहास का अपमान' और 'अन्याय' जैसे राजनीतिक शब्द ही एनआरसी और सीएए दोनों को ही समकालीन भारत में नागरिकता

[15] अनुपमा रॉय (2022) : 151-152.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 435

के वैचारिक परिदृश्य का हिस्सा बना देते हैं। नागरिक संशोधन अधिनियम सरकारी न्यायिक दावा क़ानून के भीतर आकार ले रहा था जिसमें नागरिकों की पहचान करने की दो अलग-अलग धारणाएँ हैं; एक तरफ़, न्यायिक मार्ग के माध्यम से दूसरी तरफ़, विधायी मार्ग के माध्यम से नागरिक पहचान की पेशकश की गई है।[16] राज्य की ये गतिविधियाँ सरकारी प्रक्रिया को अंकित करती हैं। यह सरकारी प्रक्रिया एक ही साथ अंदरूनी भी होती है और बाहरी भी क्योंकि यह राज्य के क्षेत्राधिकार; सार्वजनिक और निजी आदि में क्या शामिल होता है और क्या नहीं होता? सरकार की परिभाषा और पुनर्परिभाषा संबंधी रणनीतियों से तय होता है। फ़ूको यह कहते हैं कि राज्य का यह सरकारीकरण पूरी तरह अंतर्विरोधी परिघटना है क्योंकि सरकार के तरीक़े ही राजनीतिक संघर्ष और दावेदारी के एकमात्र वास्तविक स्थान रह गए हैं। लेकिन दूसरी ओर, राज्य इसी सरकारीकरण के द्वारा अपना अस्तित्व बचा पाया है।[17]

संविधान का लोकप्रिय पाठ

संविधान अपने लोकप्रिय पाठ में बहुरंगी रूप में नज़र आता है। जिसका एक रंग ऐतिहासिक विरासतों से मिल कर बना हुआ है जो राष्ट्र की कल्पनाओं को आकार देता है। दूसरा रंग लोकतांत्रिक नागरिकता की चेतना का स्रोत है। तीसरा रंग जो इस किताब की सबसे नायाब पेशकश भी है नागरिकों के द्वारा संविधान को आंदोलन और विद्रोह के पर्याय के रूप में परिवर्तित करना है।[18] सीएए आंदोलन, दिसंबर 2019 में राज्य के प्राधिकारात्मक अभ्यास के ख़िलाफ़ नागरिकों ने एक ऐसे सार्वजनिक स्थान की शिनाख़्त की जिसने संवैधानिक नैतिकता के आधार पर नागरिकता की नई शब्दावली से परिचय कराया। जिसे संविधान के 'लोकप्रिय अध्ययन' के तौर पर समझा जाना चाहिए। किताब के अनुसार एक बात क़ाबिले ग़ौर है कि संविधान की प्रस्तावना केवल दार्शनिक दर्शन की क़वायद तक सीमित नहीं थी बल्कि यह लोगों की बेचैनी, आक्रोश, धरने का स्पष्ट प्रतीक बन गई थी। इसी का परिणाम रहा है कि दो महीने के विरोध प्रदर्शन ने संविधान को बेस्टसेलर बना दिया।[19] संवैधानिक प्रतीकों के माध्यम से सीएए 2019 के विरोध प्रदर्शनकारियों ने संवैधानिक भागीदारी, लोकतांत्रिक चेतना और विचार-विमर्श के उन सिद्धांतों पर ज़ोर दिया जिसे संविधान, सरकार और जनता के त्रिभुज पर कसा जा सके। साथ ही विरोध प्रदर्शनों के दौरान अदालत द्वारा की गई कुछ टिप्पणियाँ 'संविधान के लोकप्रिय पाठ' और नागरिकों के प्रति सरकार के कर्तव्यों की याद दिलाती है। मसलन बॉम्बे हाईकोर्ट की औरंगाबाद बेंच ने बीड ज़िले के ईदगाह मैदान में विरोध प्रदर्शन की अनुमति देकर इंकार करने वाले एडीएम के आदेश को रद्द कर दिया और संवैधानिकता व क़ानून के शासन तथा स्वतंत्रता आंदोलन की विरासत

---

16 वही : 156.

17 मिशेल फ़ूको (1991) : 102-103.

18 अनुपमा रॉय (2022) : 203.

19 वही.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 436

को जनता के लिए बोधगम्य बनाया।[20] कोर्ट ने माना कि ऐसे मामलों में लोगों से बात करना और उन्हें समझाना सरकार का कर्तव्य है। फ़रवरी 2020 में दिए गए एक आदेश में, सुप्रीम कोर्ट ने शाहीन बाग़ में प्रदर्शनकारियों के साथ संचार की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया। महत्त्वपूर्ण रूप से, न्यायाधीशों ने यह भी महसूस किया कि विरोध प्रदर्शन में केवल एक विशेष समुदाय या धर्म के लोग ही भाग ले रहे हैं यह मानना गलत है; बल्कि सभी धर्मों के समूह इस आंदोलन का हिस्सा थे। दरअसल नागरिक संशोधन क़ानून से यह अनुमान लगाया गया कि यह क़ानून मानव जाति या बुनियादी मानवीय मूल्यों के ख़िलाफ़ है। न्यायाधीश 'संविधान के इतिहास' में बंधुत्व की उस भावना की शिनाख़्त कर सके जिसे हमने आज़ादी के संघर्षों से अर्जित किया था।[21] संविधान के इस लोकप्रिय पाठ से यह स्पष्ट हो चुका होगा कि नागरिकता और संविधान की दो ऐसी व्याख्याएँ जिनके स्रोत अलग-अलग हैं। एक व्याख्या राज्य की संप्रभुता से संचालित हो रही है, वह संप्रभुता के आयाम को आधार बना कर संविधान की व्याख्या प्रस्तुत कर रही है। दूसरी तरफ़ लोकप्रिय संप्रभुता की ओर से आने वाली एक व्याख्या है जो संविधान को विद्रोही नागरिकता के प्रतीक के रूप में व्याख्यायित करती है।

अंदाज़-ए-बयाँ और भी है...

जैसा कि हमने शुरू में ही कहा था, यह किताब संविधान की उन प्रक्रियाओं को नज़दीक से देखती है जो संसद से लेकर सड़क तक नागरिकता की व्याख्याओं पर आधारित है। नागरिकता और क़ानून के संबंधों पर लिखी और बतायी जा रही पद्धतियों और विजयी विमर्शों के ख़िलाफ़ आलोचनात्मक रुख़ लेते हुए लेखिका ने एक तरह से अकादमिक सत्याग्रह किया है। लेखिका ने अपने पूरे विश्लेषण के द्वारा पहले नागरिकता के विकास क्रम में प्रयोग की जाने वाली अकादमिक और क़ानूनी अवधारणाओं, श्रेणियों, पदों और परिप्रेक्ष्य की अपूर्णताओं की ओर ध्यान खींचा है और फिर अपनी प्रस्थापना से यह साबित करती हैं कि सैद्धांतिकी के इस संरचनात्मक असंतुलन को कैसे दुरुस्त किया जा सकता है। इन ख़ूबियों के बावजूद भी किताब की कुछ ख़ामियों की ओर ध्यान देना बेजा न होगा। प्रथम दृष्टया इस किताब पर एक विस्तृत समझ तभी बनायी जा सकती है जब आप नागरिकता के सैद्धांतिक विमर्श और नागरिक संशोधन क़ानून से पूर्वपरिचित हों या लेखिका के नागरिकता पर किये गये पहले के कामों को भलीभाँति जानते हों। मसलन उनकी किताबें *मैपिंग सिटीज़नशिप*, *सिटीज़नशिप इन इंडिया*, *जेंडर्ड सिटीज़नशिप* आदि मूलरूप से शामिल हैं। लेखिका नागरिकता पर बात करते हुए अपने पाठकों से यह उम्मीद करती हैं कि वे नागरिकता की ऐतिहासिक यात्रा से परिचित होंगे। की ऐतिहासिक यात्रा से परिचित होगा। दूसरी तरफ़ नागरिक लोकतंत्र के हवाले से सीएए और एनआरसी के आंदोलन को एक नाज़ुक वृत्तांत (क्रिटिकल

[20] वही : 217.

[21] वही : 220.

17 Kunwar Pranjal_Layout 1 22-02-2024 16:19 Page 437

इवेंट) के तौर पर देखने की वकालत करती हैं। वीना दास को संदर्भित करते हुए सीएए के ख़िलाफ़ आंदोलनों को एक महत्त्वपूर्ण घटना मान कर उस पूरी राजनीतिक कार्यवाही को नैतिकता के विस्तारण से जोड़ देती हैं।[22] लेकिन यह जुड़ाव एकरेखीय मालूम होता है। सीएए के ख़िलाफ़ चल रहे आंदोलनों में प्रयोग की गई भाषा स्वतंत्रता आंदोलन की भाषा प्रभावित दिखी। मसलन बेहतर यह होता कि इंक़लाब के मायने को आज़ादी और *नागरिक संशोधन क़ानून* के ख़िलाफ़ प्रयोग किए जाने को भी विश्लेषित करतीं। महामारी के दरम्याँ भारत में ही बनाये जा रहे बॉर्डर का आधार क्या था? क्या वह मौलिक अधिकारों के अनुकूल था या नहीं? जो श्रमिक वर्ग शहरों में मतदाता थे उनके प्रति सरकार का रवैया क्या था उन्हें कैसे नागरिकता की श्रेणी से हटा कर भीड़ की श्रेणी में डाल दिया गया? इस तरह के तमाम सवालों को इस किताब में महत्त्वपूर्ण रूप से अंकित करने की अभिलाषा पाठक महसूस कर सकता है।

संदर्भ

अनुपमा रॉय (2010), *मैपिंग सिटिज़नशिप इन इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

अनुपमा रॉय (2023), *सिटिज़नशिप, रिजीम, लॉ ऐंड बिलॉन्गिग : द सीएए ऐंड द एनआरसी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

आदित्य निगम (2023), *आसमाँ और भी हैं : वैचारिक स्वराज के तक़ाज़े*, सेतु प्रकाशन, नई दिल्ली.

उज्ज्वल कुमार सिंह (2020), *भारत में राज्य, प्रजातंत्र और आतंक विरोधी क़ानून*, (अ.) कमल नयन चौबे, सेज भाषा कार्यक्रम, नई दिल्ली.

कार्ल फ्रेडरिक (1950), *कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमोक्रेसी*, जिन ऐंड कंपनी, बोस्टन.

राजीव भार्गव (2008) (सं.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

कमल नयन चौबे (2013), 'भारत में नागरिकता : द्वंद्व और अंतर्विरोध', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति*, जुलाई-दिसंबर, 2013. वर्ष -1 खंड -1 अंक-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली : 776-782.

कविराज (2010), *मॉडर्निटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया संकलित द ट्रैजेक्टरीज़ ऑफ़ द इंडियन स्टेट*, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

पार्थ चटर्जी (2004), द *पॉलिटिक्स ऑफ द गवर्न्ड,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

मिशेल फ़ूको (1991), 'गवर्नमेन्टलिटी', ग्राहम बर्चेल, कॉलिन गार्डन और पीटर मिलर (सं.), द *फ़ूकोज़ इफ़ेक्ट : स्टडीज़ इन गवर्नमेन्टलिटी*, हार्वेस्टर, लंदन.

वेंडी ब्राउन (1995), *स्टेट्स ऑफ़ इंजरी : पॉवर ऐंड फ़्रीडम इन लेट मॉडर्निटी*, प्रिस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिस्टन.

सेला बेन्हबीब (2007), 'ट्वाईलाइट ऑफ़ सॉवरेन्टी ऑर द इमरजेंसी ऑफ़ कॉस्मोपॉलिटन नॉर्म्स? रिथिंकिंग सिटिज़नशिप इन वोलटाइल टाइम्स', *सिटिज़नशिप स्टडीज़* : 14.

[22] वही : 211.